

## प्राचीन काल में आश्रम व्यवस्था का महत्त्व

डॉ० श्वेता कुमारी\*

हिन्दू सामाजिक संस्थाओं में आश्रम व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय मनीषियों ने आश्रम व्यवस्था को संगठित करके विश्व की सामाजिक विचारधारा को अद्वितीय देन दी। इसके मूल में मानव-जीवन की प्रत्येक अवस्था के मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक विचार सन्निहित हैं। मानव के सर्वांगीण विकास के लिए जीवन में चार आश्रमों की व्यवस्था की गई। वस्तुतः आश्रम व्यवस्था के द्वारा सामाजिक समस्याओं के समाधान की कोशिश की गई। आश्रम मनुष्य के प्रशिक्षण की समस्या से सम्बद्ध है जो संसार की सामाजिक विचारधारा के संपूर्ण इतिहास में अद्वितीय है।

आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम' धातु से है जिसका अर्थ है- परिश्रम या प्रयास करना। मूलतः आश्रम जीवन की यात्रा में एक विश्राम स्थल का काम करते हैं जहाँ आगे की यात्रा के लिए तैयारी की जाती है। हिन्दू धार्मिक परम्परा में जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। पी० एन० प्रभु ने आश्रमों को मोक्ष प्राप्ति की यात्रा में विश्राम स्थल बताया है<sup>1</sup>। हिन्दू व्यवस्था में चार आश्रमों की सकल्पना की गई है। हिन्दू धर्मशास्त्र मनुष्य की आयु 100 वर्ष मानते हैं तथा प्रत्येक आश्रम के निमित्त पच्चीस-पच्चीस वर्ष की अवधि निर्धारित करते हैं। विभिन्न आश्रम तथा उनके अन्तर्गत पालन किये जाने वाले आचारों का हिन्दु शास्त्रकारों ने उल्लेख किया है। आश्रम व्यवस्था का दार्शनिक आधार भी था। मनुष्य के जीवन के चार आश्रम- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास क्रमशः ज्ञान-प्राप्ति, सांसारिक जीवन का भोग, संसार त्यागकर ईश्वर की अराधना और अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के निमित्त तपश्चर्या की ओर इंगित करते हैं।

डॉ० रोमिला थापर ने आश्रम के लिए अंग्रजी का शब्द 'रियूज' व्यवहृत किया है।<sup>2</sup> वस्तुतः प्रत्येक आश्रम की अपनी अलग स्थिति है जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य एक स्थल पर रहकर कार्य करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम की अर्थाभिव्यक्ति ज्ञान प्राप्ति से है। व्यक्ति इस आश्रम में रह कर संयम और नियम से शिक्षा और ज्ञान ग्रहण करता है। गृहस्थ आश्रम में वह पूर्ण रूप से गृहस्थ बनकर सांसारिक उत्तरदायित्वों और गार्हस्थ कर्तव्यों का निर्वाह करता है। समस्त सुख और सुविधा की सुलभता इसी आश्रम में मानी गयी है। वानप्रस्थ आश्रम में वह ईश्वर की अराधना करता है। वह अपने मन को सांसारिक मोह-माया से हटाने का

उपक्रम करते हुए संयम और नियम का पालन करता है। संन्यास आश्रम में वह तपस्या और त्याग का जीवन व्यतीत करता है तथा अपने सात्विक कर्तव्यों का पालन करते परम ब्रह्म की प्राप्ति हेतु तप में लीन रहता है।

जबालोपनिषद् में सर्वप्रथम चारों आश्रमों का वर्णन मिलता है। उत्तर वैदिककाल में समाज में संन्यास आश्रम को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ को ही सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित किया गया था। हिन्दू समाज में प्रचलित सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम पर ही आश्रित थे। ए० एल० बाशम की धारणा है कि हिन्दू समाज में आश्रम आदर्श रूप में थे तथा व्यवहार में इनका पालन कम ही हुआ।<sup>3</sup> किन्तु यह विचार तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। पतंजलि ने चारों आश्रमों को चतुराश्रम्य कहा है। प्रथम आश्रम में समाज व्यक्ति की देखभाल करता है जबकि द्वितीय आश्रम में व्यक्ति समाज की देखभाल करता है। तृतीय आश्रम में व्यक्ति की स्थिति परिवार तथा समाज के सलाहकार के रूप में मानी गई। अंतिम आश्रम संन्यास में व्यक्ति का सामाजिक दायित्व बिल्कुल समाप्त हो जाता है। ब्राह्मणों के लिए चारों आश्रम अत्यन्त आवश्यक थे। अन्य तीनों वर्णों के लिए तीन ही आश्रम थे। उनके लिए संन्यास आश्रम का विधान नहीं था। चारों आश्रम विभिन्न कालों एवं परिस्थितियों के प्रभाव में आने पर उसी प्रकार बरकरार रहे। आश्रम व्यवस्था का आधार अत्यन्त सुदृढ़ एवं नियोजित होना इसका मुख्य कारण था।

प्राचीन हिन्दू धार्मिक व्यवस्था में आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य आश्रम पहला महत्पूर्ण आश्रम था। ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ था-ब्रह्म के मार्ग पर चलना। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रिय निग्रह ही नहीं बल्कि इसके साथ ही वेदों का अध्ययन भी है। विद्यार्थी गुरुकुल में रहते हुए निष्ठापूर्वक गुरु की सेवा किया करता था वह सूर्योदय से पूर्व उठता था, दिन में तीन बार स्नान करता था। प्रातः एवं सायं काल में संध्योपासना करता था। ब्रह्मचारी के लिए दिन में सोना, सुगंधित वस्तुओं का प्रयोग, अंजन लगाना और तैल मर्दन आदि वर्जित था।<sup>4</sup> ब्रह्मचर्य आश्रम की साधना में ब्रह्मचारी को सदाचार और सच्चरित्रता का अनुपालन करना होता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि प्रायः बारह वर्ष की होती थी। जैसे चौबीस, छत्तीस और अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का जीवन अनुसरित करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत गुरु-आश्रम में रहकर विद्या प्राप्त करनेवाले कई प्रकार के ब्रह्मचारी होते थे जिन्हें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन श्रेणियों में रखा जाता था। जो ब्रह्मचारी पढ़ने में अच्छे होते थे वे उत्तम, जो न बहुत तीव्र होते थे और न मंद ही वे मध्यम और अत्यन्त मंद ब्रह्मचारी कनिष्ठ की श्रेणी में आते थे।

\*इतिहास विभाग पटना विश्वविद्यालय, पटना

ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत शिक्षार्थियों के दो वर्ग होते थे— उपकुर्वाण और नैष्ठिक। जो शिक्षार्थी विवाह के पूर्व गुरुकुल में निवास करके दस-पन्द्रह वर्ष बाद गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए लौट जाते थे वे उपकुर्वाण कहलाते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवन पर्यन्त गुरु के समीप रहकर अध्ययन करते थे और अंत में ब्रह्मलोक को प्राप्त करते थे।<sup>9</sup> गुरु के आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी विभिन्न विद्याएँ—धर्म, दर्शन, आयुर्वेद, धनुर्वेद का अध्ययन करता था। जब विद्यार्थी की शिक्षा पूरी हो जाती थी तो वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु को गुरुदक्षिणा प्रदान कर वापस घर आता था जिसे 'समावर्तन' कहा जाता था। गुरु आश्रम में विद्यार्थी खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा सादा होता था। गुरु आश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए बालकों की मानसिक, चारित्रिक एवं बौद्धिक विकास संभव हो पाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत स्त्रियों के शामिल होने के उदाहरण कम मिलते हैं क्योंकि स्त्री पूर्ण रूप से घर में रहकर गृहस्थ बनने की आशा करती थी और सोलह वर्ष की आयु तक उसका विवाह सम्पन्न हो जाता था। वैदिक युग में उसे ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए निर्दिष्ट किया गया था। परवर्ती काल में स्त्रियों का ब्रह्मचर्य जीवन प्रायः समाप्त हो गया।

ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत शिक्षा ग्रहण करने के उपरांत भारतीय समाज में गृहस्थ आश्रम की शुरुआत होती थी। समावर्तन संस्कार की समाप्ति के साथ ही व्यक्ति के गृहस्थाश्रम की शुरुआत होती थी। पातंजलि के अनुसार मानव जीवन के सभी आश्रम गृहस्थ पर आश्रित थे।<sup>10</sup> स्मृतिकारों ने प्रायः गृहस्थ आश्रम को सर्वोच्च माना है। इस आश्रम में मानव पितृ ऋण से मुक्त हो सकता था। इस आश्रम पर अन्य आश्रमों का अवलम्बन इस लिए माना गया क्योंकि गृहस्थों द्वारा ही ब्रह्मचार्यो, वानप्रस्थियों एवं संन्यासियों की आवश्यकताएँ पूरी होती थी। ऋण से मुक्ति एवं नवीन पापों को रोकने के लिए गृहस्थ पंचमहायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, नृयज्ञ, भूतयज्ञ) प्रतिदिन सम्पादित करता था।

गृहस्थ आश्रम में रहते हुए मनुष्य को जिन पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान करना पड़ता था, उनमें ब्रह्मयज्ञ पहला था जिसके अंतर्गत वेदों का अध्ययन किया जाता था। पितृयज्ञ के अंतर्गत पितरों की पूजा की जाती थी। देवयज्ञ के अंतर्गत देवताओं की पूजा-अर्चना होती थी। यह यज्ञ पत्नी के बिना संभव नहीं था। भूतयज्ञ के अंतर्गत बलि प्रदान की जाती थी। बलि अग्नि में न डाल कर विभिन्न दिशाओं में रख दी जाती थी ताकि सभी प्राणी उसे ग्रहण कर सकें। पाँचवा महत्त्वपूर्ण मनुष्य यज्ञ था जो 'अतिथि यज्ञ' भी कहा जाता था। तैत्तरीय संहिता का 'अतिथि देवो भवः' वाक्य समाज में अतिथि की महत्ता को निरूपित करता है।<sup>11</sup>

महाभारत में गृहस्थ के चार प्रकार बताये गये हैं— कुसूलधान्य, कुंभधान्य, अश्वस्तन और कपोतीमाश्रित। कुसूलधान्य गृहस्थ के अंतर्गत वे आते थे जो षट्

कर्माँ—यज्ञन, याजन, पठन—पाठन, दान और प्रतिग्रह को संपन्न करते थे। कुंभधान्य वे गृहस्थ थे जो यज्ञ, अध्ययन और दान में निष्ठावान रहते थे तथा अश्वस्तन वे थे जो अध्ययन और दान करते थे। कपोतीमाश्रित गृहस्थ वे थे जो केवल स्वाध्याय में ही रुचि रखते थे।<sup>12</sup> गृहस्थ आश्रम के अंतर्गत मानव जीवन के कई उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ हो जाती थी। वस्तुतः गृहस्थ आश्रम का मूल उद्देश्य धर्म, संतान और काम की उपलब्धि था। साथ ही गृहस्थ के सामाजिक कर्तव्य और पारिवारिक जीवन के विकास में इसकी महत्ता स्वीकार की गई। स्पष्टतः गृहस्थाश्रम एक ऐसा स्थल माना जाता था जहाँ मानव, पुत्र, पत्नी, परिवार के साथ-साथ अपने पितरों के प्रति कर्तव्यों को पूर्ण करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करता था। इस आश्रम की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि अन्य आश्रम जहाँ एकाकी संबंध को निरूपित करते हैं वहीं गृहस्थ आश्रम अन्य तीन आश्रमों, पूरे समाज के साथ जीवित अथवा मृत सभी संबंधियों से सम्बद्ध था।

गृहस्थ आश्रम में स्त्री की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि बिना उसके सहयोग और सहायता के गृहस्थ का जीवन प्रयोजनहीन और उद्देश्यहीन हो जाता था। चूँकि स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य था। अतः ब्रह्मचर्य के तुरंत बाद न तो वह वानप्रस्थ अपना सकती थी न ही संन्यास धारण कर सकती थी। मनु के अनुसार प्रजनन हेतु ही स्त्री की सृष्टि की गई थी।<sup>13</sup> ऐसी स्थिति में स्त्री गृहस्थ आश्रम में रहते हुए समस्त गार्हस्थ्य कर्म और यज्ञ सम्पन्न करती थीं। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए स्त्री अपने धार्मिक और सामाजिक कर्तव्यों का संपादन करती थी। गृहस्थ जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाये रखना उसका परम कर्तव्य था। गृहस्थ में मानव के लिए कुछ नियम निर्धारित किये गए थे। गृहसुत्रों के अनुसार विवाह के पश्चात् गृहस्थ को घर बनाना आवश्यक बताया गया।<sup>14</sup> साथ ही उसे सत्य बोलना, दूसरे के प्रति दयालु होना, धैर्यवान होना और न्यायप्रित होना पड़ता था। उसे निर्देश दिया गया कि वह अपने कुटुम्बियों के साथ कभी झगड़ा नहीं करें।

प्राचीन ग्रंथों में वानप्रस्थ आश्रम की चर्चा गृहस्थ आश्रम में समापन के बाद मिलती है। धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और महाकाव्य में इसका वर्णन व्यापक रूप से किया गया है। जब मनुष्य गृहस्थ आश्रम के कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों को सम्पन्न कर लेता था तब वह सांसारिक मोहमाया का त्यागकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। उपनिषद् युग में वानप्रस्थ जीवन का प्रसार हुआ। मनुस्मृति में कहा गया है कि जब मनुष्य के सिर के बाल सफेद होने लगे, उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाएँ तथा वह पौत्रों का मुख देख ले तब उसे वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार व्यवस्थाकारों ने वानप्रस्थी को कठोर और अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया। प्राचीन ग्रंथों में वानप्रस्थी की दिनचर्या का विवरण मिलता है जिससे यह पता चलता है कि उसे केवल कंद मूल और फल ही खाना

होता था। मांस, मिष्ठान आदि उसके लिए वर्जित था। उसे अपना अधिकांश समय उपवास में ही व्यतीत करना पड़ता था। वन में रहते हुए वानप्रस्थी के साथ यद्यपि उसकी पत्नी उसके साथ रहती थी तथापी उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त वानप्रस्थी वेद और उपनिषदों का अध्ययन करता हुआ अपना ज्ञानवर्द्धन करता था। इस प्रकार शोक और भय से मुक्त रहता हुआ वह मोक्ष को प्राप्त करता था।<sup>11</sup> वानप्रस्थ आश्रम में अध्ययन और ध्यान मुख्य साध्य थे। यहाँ व्यक्ति राग, द्वेष से रहित हो कर सभी के प्रति मैत्री भाव रखता था। वानप्रस्थ आश्रम की आयु पचास से पचहत्तर वर्ष तक होती थी। यद्यपि वह दान लेने का अधिकारी नहीं था तथापि उसका यह कर्तव्य था कि वह सभी के प्रति दानशील बना रहे।<sup>12</sup> वानप्रस्थ आश्रम की आयु पचास से पचहत्तर वर्ष तक होती थी। वानप्रस्थी के लिए इन्द्रियनिग्रह, जीवों के प्रति दया, भिक्षा पर जीवकोपार्जन प्रधान धर्म था। वह एकाग्र मन से अपने तपःशील जीवन का पालन करता था। गाँव में प्रवेश करना उसके लिए वर्जित था। दुःख, तृष्णा और आसक्ति से दूर रहकर वह आध्यात्म और ब्रह्मज्ञान में तल्लीन रहता था। वानप्रस्थ आश्रम अपनानेवाले पूर्व मध्यकालीन शासकों में प्रतिहार, पाल, सेन, आदि राजवंशों के कुछ शासकों के अभिलेख इसकी पुष्टि करते हैं।

वानप्रस्थ आश्रम में स्त्रियों के प्रवेश के विवरण मनुस्मृति एवं पुराणों से प्राप्त होते हैं।<sup>13</sup> गृहस्थ आश्रम की समाप्ति के बाद स्त्री अपनी इच्छानुसार अपने पति के साथ वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकती थीं। महाभारत में विवृत है कि अरुन्धती, माधवी, सुलभा आदि ऐसी ही स्त्रियाँ थी जिन्होंने वानप्रस्थ आश्रम अपनाते हुए कठिन तपश्चर्या की थी। ऐसी स्त्रियाँ सांसारिक मोह माया और भौतिक सुख समृद्धि से अपने ध्यान को हटा कर मोक्ष की प्राप्ति में अपना मन—मस्तिष्क लगाती थीं। साधारणतः स्त्रियाँ आजीवन गृहस्थ आश्रम में रहा करती थीं।

जब मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम को सफलतापूर्वक पार कर लेता था तो वह अंतिम आश्रम संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। संन्यास आश्रम की कालावधि 75 वर्ष की अवस्था से 100 वर्ष अथवा इसके बाद निर्धारित की गई थी। संन्यास आश्रम में व्यक्ति समस्त राग, द्वेष, मोहमाया आदि से विरत होकर एकाकी भ्रमण करता था। अपने निर्वाह के लिए वह दिन में मात्र एक बार भिक्षा मांग सकता था। उसे अपने इन्द्रियों पर कठोर नियंत्रण रखना होता था। संन्यास आश्रम में व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के कार्यक्रम में लीन होता था तथा अपनी आत्मा को ब्रह्म की ओर लगाता था। संग्रह करना उसके लिए वर्जित था। उसके लिए यह नियम था कि वह जटायु और अण्डज सभी जीवों के प्रति समभाव रखे तथा काम, क्रोध, मोह आदि समस्त आदि समस्त दुर्गुणों को त्याग दे। डॉ० रोमिला थापर ने संन्यास अपनाने वाले दो वर्गों का उल्लेख किया है। एक वह जो व्यक्तिगत रूप से अपने

को पूर्णतः अलग करके संन्यासी हो जाता है और दूसरा वह जो संसार त्यागियों के समूह में मिलकर रहता था। पहला वर्ग योगी का था और दूसरा त्यागी का। डॉ० रोमिला थापर ने संन्यास अथवा योग के इतिहास का प्राक्कालिन इतिहास माना है तथा हड़प्पा संस्कृति से प्राप्त पशुपति की मुहर को इसका प्रारंभिक चरण प्रस्तुत किया है।<sup>14</sup>

प्रायः सभी हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के लिए संन्यास आश्रम का कोई उल्लेख नहीं किया है। उनके लिए गृहस्थ आश्रम में ही रहकर समस्त उत्तरदायित्वों का निर्वाह का निर्देश दिया गया था। बौद्धयुग में आकर ही स्त्री के लिए संन्यास अथवा भिक्षुणी का जीवन प्रारंभ हुआ। निश्चित ही यह बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही समाज में प्रचलित हुआ। स्त्रियों के लिए एकांतवास कठिन था और उनके नैतिक पतन की आशंका बनी रहती थी। संभवतः इन्हीं समस्याओं की आशंका से हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के लिए संन्यास का जीवन स्वीकार नहीं किया।

#### संदर्भ सूची :

1. पी० एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, बम्बई 1956, पृ० 83
2. रोमिला थापर, एंशियंट इंडिया सोशल हिस्ट्री, दिल्ली 1978, पृ० 38
3. ए० एल० बाशम, अद्भूत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा 1990, पृ० 131
4. अर्थशास्त्र (कौटिल्यकृत) सम्पादक— आर० शाम शास्त्री, मैसूर 1909 पृ० 131, गौतम धर्मसूत्र, 2
5. मनुस्मृति 49.51
6. महाभाष्य 2.1.26 संपादक—एफ० कीलहार्न, बम्बई, 1945
7. तैत्तरीयसंहिता 2.11.2.2 आनंदाश्रम संस्कृत सीरिज, बम्बई 1926
8. महाभारत शांतिपर्व, 243.2.4
9. मनुस्मृति 9.96
10. आश्वलायन गृहसूत्र 2.7, नारायण की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1894, गोभिल गृहसूत्र 4.7, बिब्लियोथिका इंडिका, सीरिज
11. मनुस्मृति 6.32
12. वही, 6.8
13. मनुस्मृति 6.3, विष्णुपराण 4.2.129
14. रोमिला थापर, एंशियंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, दिल्ली, 1978, पृ० 67

